

आगम-तुल्य ग्रन्थों की प्रामाणिकता का मूल्यांकन

डॉ० एन० एल० जैन

रीवा, म० प्र०

वर्तमान वैज्ञानिक युग की यह विशेषता है कि इसमें विभिन्न भौतिक व आध्यात्मिक तथ्यों और घटनाओं को बौद्धिक परीक्षा के साथ प्रायोगिक साक्ष्य के आधार पर भी व्याख्या करने का प्रयत्न होता है। दोनों प्रकार के संपोषण से आस्था बलवती होती है। वैज्ञानिक मस्तिष्क दार्शनिक या सन्त को स्वानुभूति, दिव्यदृष्टि या मात्र बौद्धिक व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं होता। इसी लिये वह प्राचीन शास्त्रों, शब्द या वेद की प्रामाणता की धारणा की भी परीक्षा करता है। जैन शास्त्रों में प्राचीन श्रुत की प्रामाणता के दो कारण दिये हैं : (१) सर्वज्ञ, गणधर, उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा रचना और (२) शास्त्र वर्णित तथ्यों के लिये बाधक प्रमाणों का अभाव।^१ इस आधार पर जब अनेक शास्त्रीय विवरणों का आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है, तब मुनिश्री भन्दिघोष विजय^२ के अनुसार भी स्पष्ट भिन्नतायें दिखाई पड़ती हैं। अनेक साधु, विद्वान्, परम्परापोषक और प्रबुद्धजन इन भिन्नताओं के समाधान में दो प्रकार के दृष्टिकोण अपनाते हैं :

(अ) वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार ज्ञान का प्रवाह वर्धमान होता है। फलतः प्राचीन वर्णनों में भिन्नता ज्ञान के विकास-पथ को निरूपित करती है। वे प्राचीन शास्त्रों को इस विकासपथ के एक मोल का पत्थर मानकर इन्हें ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में स्वीकृत करते हैं। इससे वे अपनी बौद्धिक प्रगति का मूल्यांकन भी करते हैं।

(ब) परम्परापोषक दृष्टिकोण के अनुसार समस्त ज्ञान सर्वज्ञ, गणधरों एवं आरातीय आचार्यों के शास्त्रों में निरूपित है। वह शाश्वत माना जाता है। इस दृष्टिकोण में ज्ञान की प्रवाहरूपता एवं विकास प्रक्रिया को स्थान प्राप्त नहीं है। इसलिये जब विभिन्न विवरणों, तथ्यों और उनको व्याख्याओं में आधुनिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भिन्नता परिलक्षित होती है, तब इस कोटि के अनुसर्तों विज्ञान की निरन्तर परिवर्तनीयता एवं शास्त्रीय अपरिवर्तनीयता की चर्चा उठाकर परम्परा-पोषण को ही महत्त्व देते हैं। यह प्रयत्न अवश्य किया जाता है कि इन व्याख्याओं से अधिकाधिक संगतता आवे चाहे इसके लिये कुछ खींचतान ही क्यों न करनी पड़े। अनेक विद्वानों की यह धारणा संभवतः उन्हें अरुचिकर प्रतीत होगी कि अंग-साहित्य का विषय युगानुसार परिवर्तित होता रहता है। सत्य ही, पोषण का अर्थ केवल संरक्षण ही नहीं, संवर्धन भी होता है। जैन शास्त्रों के काकदृष्टीय अध्ययन से ज्ञात होता है कि शास्त्रीय आचार-विचार की मान्यतायें नवमो-दशमी सदी तक विकसित होती रही हैं। इसके बाद इन्हें स्थिर एवं अपरिवर्तनीय क्यों मान लिया गया, यह शोधनीय है। शास्त्री^३ का मत है कि परम्परापोषक वृत्ति का कारण संभवतः प्रतिमा की कमी तथा राजनीतिक अस्थिरता माना जा सकता है। पापचीरुता^४ भी इसका एक संभावित कारण हो सकता है। इस स्थिति ने समग्र भारतीय परिवेश को प्रभावित किया है।

शास्त्री^५ ने आरातीय आचार्यों को श्रुतधर, सारस्वत, प्रबुद्ध, परम्परापोषक एवं आचार्यतुल्य कोटियों में वर्गीकृत किया है। इनमें प्रथम तीन कोटियों के प्रमुख आचार्यों के ग्रन्थों का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि प्रत्येक आचार्य

ने अपने युग में परम्परागत मान्यताओं में युगानुरूप नाम, भेद, अर्थ और व्याख्याओं में परिवर्धन, संशोधन तथा विलोपन कर स्वतंत्र चिन्तन का परिचय दिया है। इनके समय में ज्ञानप्रवाह गतिमान रहा है। इस गतिमत्ता ने ही हमें आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं राजनीतिक दृष्टि से गरिमा प्रदान की है। हम चाहते हैं कि इसी का आलंबन लेकर नया युग और भी गरिमा प्राप्त करे। इसके लिये मात्र परंपरापोषण की दृष्टि से हमें ऊपर उठना होगा। आचार्यों की प्रथम तीन कोटियों की प्रवृत्ति का अनुसरण करना होगा। उपाध्याय अमर मुनि^६ ने भी इस समस्या पर मन्थन कर ऐसी ही धारणा प्रस्तुत की है। हम इस लेख में कुछ शास्त्रीय मन्तव्य प्रकाशित कर रहे हैं जिनसे यही मन्तव्य सिद्ध होता है।

आचार्यों और ग्रन्थों की प्रामाणिकता

हमने जिनसेन के 'सर्वज्ञोक्त्यनुवादिनः' के रूप में आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों की प्रामाणिकता की धारणा स्थिर की है।^७ पर जब विद्वज्जन इनका समुचित और सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं, तो इस धारणा में सन्देह उत्पन्न होता है एवं सन्देह निवारक धारणाओं के लिये प्रेरणा मिलती है।

सर्वप्रथम हम महावीर की आचार्य परम्परा पर ही विचार करें। हमें विभिन्न स्रोतों से महावीर निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्षों की आचार्य परम्परा प्राप्त होती है।^८ इसमें कम-से-कम चार विसंगतियां पाई जाती हैं। दो का समाधान जंबूद्वीप प्रज्ञाप्त से होता है, पर अन्य दो यथावत् बनी हुई हैं :

- (i) महावीर के प्रमुख उत्तराधिकारी गौतम गणधर हुए। उसके बाद और जंबू स्वामी के बीच में लोहार्य और सुधर्मा स्वामी के नाम भी आते हैं। यह तो अच्छा रहा कि जंबूद्वीप प्रज्ञाप्ति में स्पष्ट रूप से सुधर्मा स्वामी और लोहार्य की अभिन्न बनाकर यह विसंगति दूर की और तीन ही केवली रहे।
- (ii) पांच श्रुतकेवलियों के नामों में भी अन्तर है। पहले ही श्रुतकेवली कहीं 'नन्दी' हैं तो कहीं 'विष्णु' कहे गये हैं। इन्हें विष्णुर्नन्दि मानकर समाधान किया गया है।
- (iii) धवला में मुभद्र, यशोभद्र, मद्रबाहु एवं लोहाचार्य को केवल एक आचारांगधारी माना है जबकि प्राकृत पट्टावली में इन्हें क्रमशः १०, ९, ८ अंगधारी माना है। इस प्रकार इन चार आचार्यों की योग्यता विवादग्रस्त है।
- (iv) ६८३ वर्ष की महावीर परम्परा में एकांगधारी पुष्पदंत-भूतबलि सहित पांच आचार्यों (११८ वर्ष) को समाहित किया गया है और कहीं उन्हें छोड़कर ही ६८३ वर्ष की परम्परा दो गई है जैसा सारणी १ से स्पष्ट है। एक सूची में १०, ९, ८ अंगधारियों के नाम ही नहीं हैं।

फलतः आचार्यों की परम्परा में ही नाम, योग्यता और कार्यकाल में भिन्नता है। यह परम्परा महावीर-उत्तर कालीन है। महावीर ने विभिन्न युग के आचार्यों के लिये भिन्न-भिन्न परम्परा के लेखन की दिव्यध्वनि विकीर्ण न की होगी। आधुनिक दृष्टि से इन विसंगतियों के दो कारण संभव हैं :

- (अ) प्राचीन समय के विभिन्न आचार्यों और उनके साहित्य के समुचित संचरण एवं प्रसारण की व्यवस्था और प्रक्रिया का अभाव।

(ब) उपलब्ध प्रत्यक्ष, अपूर्ण या परोक्ष सूचनाओं के आधार पर परम्परापोषण का प्रयत्न ।

नये युग में ये ही कारण प्रामाणिकता में प्रश्नचिह्न लगाते हैं । फिर, यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि कौन-सी सूची प्रमाण है ?

सारणी १. धवला और प्राकृत पट्टावली की ६८३ वर्ष-परम्परा

	धवला परम्परा	प्राकृत पट्टावली परम्परा
३. केवली	६२ वर्ष	६२ वर्ष
५. भुतकेवली	१०० ,,	१०० ,,
११. दशपूर्वधारी	१८३ ,,	१८३ ,,
५. एकादशांगधारी	२२० ,,	१२३ ,,
४. १०, ९, ८ अंगधारी	—	९७ ,,
४. एकांगधारी	११८	११८ ,, (पांच एकांगधारी)
	६८३	६८३

मुलाचार^८ के अनुसार, आचार्य शिष्यानुग्रह, धर्म एवं मर्यादाओं का उपदेश, संघ-प्रवर्तन एवं गण-परिरक्षण का कार्य करते हैं । अन्तिम दो कार्यों के लिये एतिहासिक एवं जीवन परम्परा का ग्रथन आवश्यक है । पर प्रारम्भ के प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों का जीवनवृत्त अनुमानतः ही निष्कर्षित है । आत्म-हितैषियों के लिये इसका महत्व न भी माना जावे, तो भी परम्परा या ज्ञानविकास की क्रमिकधारा और उसके तुलनात्मक अध्ययन के लिये यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है । प्राचीन भारतीय संस्कृति की इस इतिहास-निरपेक्षता की वृत्ति को गुण माना जाय या दोष-यह विचारणीय है । एक ओर हमें 'अज्ञातकुलशीलस्य, वासो देयो न कस्यचित्' की सूक्ति पढाई जाती है, दूसरी ओर हमें ऐसे ही सभी आचार्यों को प्रमाण मानने की धारणा दी जाती है । यह और ऐसी ही अन्य परस्पर-विरोधी मान्यताओं ने हमारी बहुत हानि की है । उदाहरणार्थ, शास्त्री^९ द्वारा समीक्षित विभिन्न आचार्यों के काल-विचार के आधार पर प्रायः सभी प्राचीन आचार्य समसामयिक सिद्ध होते हैं :

१. गुणधर	११४ ई० पू०	—	—
२. धरसेन	५०-१०० ई०	प्रथम सदी	सौराष्ट्र, महाराष्ट्र
३. पुष्पदंत	६०-१०६ ई०	,,	आंध्र, महाराष्ट्र
४. भूतबलि	७६-१३६ ई०	१-२ सदी	आंध्र
५. कुंदकुंद	८१-१६५ ई०	१-२ सदी	तामिलनाडु
६. उमास्वाति	१००-१८० ई०	२ सदी	,,
७. बटुकेर	—	प्रथम सदी	,,
८. शिवायं	—	प्रथम सदी	मथुरा
९. स्वामिकुमार (कार्तिकेय)	—	२-३ री सदी	गुजरात

इनमें गुणधर, धरसेन, पुष्पदंत और भूतबलि का पूर्वापर्य और समय तो पर्याप्त यथार्थता से अनुमानित होता है । ३२ कुंदकुंद और उमास्वाति के समय पर पर्याप्त चर्चा मिलती है । यदि इन्हें महावीर के ६८३ वर्ष बाद ही मानें,

तो इनमें से कोई भी आचार्य दूसरी सदों का पूर्ववर्ती नहीं हो सकता (६८३-५२७ = १५६ ई०) । इन्हें गुरु-शिष्य मानने में भी अनेक बाधक तर्क हैं :

(i) उमास्वाति की बारह भावनाओं के नाम व क्रम कुंदकुंद से भिन्न हैं ।

(ii) उमास्वाति ने वट्टकेर के पंचाचार और शिवार्य के चतुराचार को सम्यक् रत्नत्रय में परिवर्धित किया । उन्होंने तप और वीर्य को चारित्र्य में ही अन्तर्भूत माना ।

(iii) कुंदकुंद के एकार्थी पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थों की विविधा को दूर कर उन्होंने सात तत्त्वों की मान्यता को प्रतिष्ठित किया ।

(iv) उमास्वाति ने अद्वैतवाद या निश्चय-व्यवहार दृष्टियों की वरीयता पर माव्यस्थ भाव रखा ।

(v) उमास्वाति ने ज्ञान को प्रमाण बताकर जैन विद्याओं में सर्वप्रथम प्रमाणवाद का समावेश किया ।

(vi) उमास्वाति ने श्रावकाचार के अन्तर्गत ग्यारह प्रतिमाओं पर मौन रखा । संभवतः इसमें उन्हें पुनरावृत्ति लगी हो ।

(vii) उन्होंने सल्लेखना को श्रावक के द्वादश व्रतों से पृथक् माना ।

(viii) उन्होंने सप्त तत्त्वों में बंध-मोक्ष का कुंद-कुंद-स्वीकृत क्रम अमात्य कर बंध को चौथा और मोक्ष को सातवां स्थान दिया ।

शिष्यता से मार्गानुसारिता अपेक्षित है । परन्तु लगता है कि उमास्वाति प्रतिमा के धनी थे । उन्होंने तत्कालीन समय साहित्य में व्याप्त चर्चाओं की विविधता देखकर अपना स्वयं का मत बनाया था । यही दृष्टिकोण वर्तमान में अपेक्षित है ।

उमास्वाति के समान अन्य आचार्यों ने भी सामयिक समस्याओं के समाधान की दृष्टि से परंपरागत मान्यताओं में संयोजन एवं परिवर्धन आदि किये हैं । इसलिये धार्मिक ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्त, चर्चाएँ या मान्यताएँ अपरिवर्तनी हैं, ऐसी मान्यता तर्कसंगत नहीं लगती । विभिन्न युगों के ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि अहिंसादि पाँच नीतिगत सिद्धान्तों की परंपरा भी महावीर-युग से ही चली है । इसके पूर्व भगवान् रिषभ की त्रियाम (समत्व, सत्य, स्वायत्तता) एवं पार्श्वनाथ की चतुर्थाय परंपरा थी ।^{१०} महावीर ने ही अचेलकत्व को प्रतिष्ठित किया । महावीर ने युग के अनुरूप अनेक परिवर्धन कर परंपरा को व्यापक बनाया । व्यापकीकरण की प्रक्रिया को भी परंपरापोषण ही माना जाना चाहिये । यद्यपि आज के अनेक विद्वान् इस निष्कर्ष से सहमत नहीं प्रतीत होते पर परंपराएँ तो परिवर्धित और विकसित होकर ही जीवन्त रहती हैं । वस्तुतः देखा जाय, तो जो लोग मूल आम्नाय जैसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं, उसका विवृत जगत के लिए कोई अर्थ ही नहीं है । बीसवीं सदी में इस शब्द की सही परिभाषा देना ही कठिन है । भ० रिषभ को मूल माना जाय या भ० महावीर को ? इस शब्द की व्युत्पत्ति स्वयं यह प्रदर्शित करती है कि यह व्यापकीकरण की प्रक्रिया के प्रति अनुदार है । हाँ, बीसवीं सदी के कुछ लेखक^{११} समन्वय की थोड़ी-बहुत संभावना को अवश्य स्वीकार करने लगे हैं ।

सैद्धान्तिक मान्यताओं में संशोधन और उनकी स्वीकृति

उपरोक्त तथा अन्य अनेक तथ्यों से यह पता चलता है कि समय-समय पर हमने अपनी पूर्वगत अनेक सैद्धान्तिक मान्यताओं के संशोधनों को स्वीकृत किया है जिनमें कुछ निम्न हैं :

(i) हमने विभिन्न तीर्थंकरों के युग में प्रचलित त्रियाम, चतुर्याम और पंचयाम धर्म के परिवर्धन को स्वीकृत किया ।

(ii) हमने विभिन्न आचार्यों के पंचाचार, चतुराचार एवं रत्नत्रय के क्रमशः न्यूनीकरण को स्वीकृत किया ।

(iii) हमने प्रवाह्यमान (परंपरागत) और अप्रवाह्यमान (संवाधत) उपदेशों को भी मान्यता दी ।^{१२}

(iv) अकलंक और अनुयोग द्वार सूत्र ने लौकिक संगति बैठाने के लिये प्रत्यक्ष के दो भेद कर दिये जिनके विरोधी अर्थ हैं : लौकिक और पारमार्थिक । इन्हें भी हमने स्वीकृत किया और यह अब सिद्धान्त है ।^{१३}

(v) न्याय विद्या में प्रमाण शब्द महत्वपूर्ण है । इसकी चर्चा के बदले उमास्वातिपूर्व साहित्य में ज्ञान और उसके सम्यक्त्व या मिथ्यात्व की ही चर्चा है । प्रमाण शब्द की परिभाषा भी 'ज्ञानं प्रमाणं' से लेकर अनेक बार परिवर्धित हुई है । इसका विवरण द्विवेदी ने दिया है ।^{१४}

(vi) हमने अर्धपालक और यापनीय आचार्यों को अपने गर्भ में समाहित किया जिनके सिद्धान्त तथाकथित मूल परंपरा से अनेक बातों में भिन्न पाये जाते हैं ।

ये तो सैद्धान्तिक परिवर्धनों की सूचनार्थ हैं । ये हमारे धर्म के आधारभूत तथ्य रहे हैं । इन परिवर्धनों के परिप्रेक्ष्य में हमारी शास्त्रीय मान्यताओं की अपरिवर्तनीयता का तर्क कितना संगत है, यह विचारणीय है । मुनिश्री^{१५} ने इस समस्या के समाधान के लिये शास्त्र और ग्रन्थ की स्पष्ट परिभाषा बताई है । उनके अनुसार केवल अध्यात्म विद्या ही शास्त्र है जो अपरिवर्तनीय है, उनमें विद्यमान अन्य वर्णन ग्रन्थ की सीमा में आते हैं और वे परिवर्धनीय हो सकते हैं ।

शास्त्रों में पूर्वापर विरोध

शास्त्रों की प्रमाणता के लिये पूर्वापर-विरोध का अभाव भी एक प्रमुख बौद्धिक कारण माना जाता है । पर यह देखा गया है कि अनेक शास्त्रों के अनेक सैद्धान्तिक विवरणों में परस्पर विरोध तो है ही, एक ही शास्त्र के विवरणों में भी बिसंगतियाँ पाई जाती हैं । परंपरापोषी टीकाकारों ने ऐसे विरोधी उपदेशों को भी ग्राह्य बताया है । यह तो उन्होंने स्वीकृत किया है कि विरोधी या भिन्न मतों में से एक ही सत्य होगा, पर वीरसेन, वसुनन्दि जैसे टीकाकार और छद्मस्थों में सत्यासत्य निर्णय की विवेक क्षमता कहाँ ?^{१६} इन विरोधी विवरणों की ओर अनेक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है ।

सबसे पहले हम मूल ग्रन्थों के विषय में ही सोंचें । सारणी २ से ज्ञात होता है कि कषाय प्राभूत, मूलाचार एवं कुंदकुंद साहित्य के भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने तत्तत् ग्रन्थों में सूत्र या गाथा की संख्याओं में एकरूपता ही नहीं पाई । इसके अनेक रूप में समाधान दिये जाते हैं । इस भिन्नता का सद्भाव ही इनकी प्रामाणिकता की जांच के लिये प्रेरित करता है । ये अतिरिक्त गाथाएँ कैसे आईं ? क्यों हमने इनको भी प्रामाणिक मान लिया ? यही नहीं, इन ग्रन्थों में अनेक गाथाओं का पुनरावर्तन है जो ग्रन्थ निर्माण प्रक्रिया से पूर्व परंपरागत मानी जाती हैं । ये संघभेद से पूर्व की होने के कारण अनेक श्वेतांबर ग्रन्थों में भी पाई जाती हैं । गाथाओं का यह अन्तर अन्योन्य विरोध तो माना ही जावेगा । कुंदकुंद-साहित्य के विपन्न में तो यह और भी अचरजकारी है कि दोनों टीकाकार लगभग १०० वर्ष के अन्तराल में ही उत्पन्न हुए ।

सारणी : २ : कुछ मूल ग्रन्थों की गाथा । सूत्र संख्या^{१५}

ग्रन्थ	गाथा संख्या, प्रथम टीकाकार	गाथा संख्या, द्वितीय टीकाकार
१. कषाय पाहुड़	१८०	२३३ (जय धवला)
२. कषाय पाहुड़चूर्ण	८००० श्लोक (ति० प०)	७००० ,,
३. सत्प्ररूपणा सूत्र	१७७	१००
४. मूलाचार	१२५२ (वसुनंदि)	१४०९ (मेघचंद्र)
५. समयसार	४१५ (अमृतचंद्र)	४४५ (जयसेन)
६. पंचास्तिकाय	१७३ ,,	१९१ ,,
७. प्रवचनसार	२७५ ,,	३१७ ,,
८. रयणसार	१५५ —	१६७ —

शास्त्रों में सैद्धान्तिक चर्चाओं के विरोधी विवरण

यह विवरण दो शीर्षकों में दिया जा रहा है :

(i) एक ही ग्रन्थ में असंगत चर्चा—मूलाचार के पर्याप्ति अधिकार की गाथा ७९-८० परस्पर असंगत हैं^{१५} :

	गाथा ७९	गाथा ८०
सौधर्म स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु	५ पत्य	५ प.
ईशान स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु	७ पत्य	५ प.
सानत्कुमार स्वर्ग में देवियों की उत्कृष्ट आयु	९ प.	१७ प.

धवला के दो प्रकरण^{१६}—(i) खुदक बन्धके अल्प बहुत्व अनुयोग द्वार में वनस्पति कायिक जीवों का प्रमाण सूत्र ७४ के अनुसार सूक्ष्म वनस्पति कायिक जीवों से विशेष अधिक होता है जब कि सूत्र ७५ के अनुसार सूक्ष्म वनस्पति कायिक जीवों का प्रमाण वनस्पति कायिक जीवों से विशेष अधिक होता है। दोनों कथन परस्पर विरोधी हैं। यही नहीं, सूक्ष्म वनस्पति कायिक जीव और सूक्ष्म निगोद जीव वस्तुतः एक ही हैं, पर इनका निर्देश पृथक्-पृथक् है।

(i) भागाभागाणुगम अनुयोग द्वार के सूत्र ३४ की व्याख्या में विसंगतियों के लिये वीरसेन ने सुझाया है कि सत्यासत्य का निर्णय आगम निपुण लोग ही कर सकते हैं।

(ii) भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में असंगत चर्चायें—(i) तीन वातबलयों का विस्तार यतिवृषम और सिद्ध सूर्य ने अलग-अलग दिया है :

(अ) त्रिलोक प्रज्ञति में क्रमशः १^१, १^१ व ११^३ कोश विस्तार है।

(ब) लोक विभाग में क्रमशः २, १ कोश, एवं १५७५ धनुष विस्तार है।

इसी प्रकार सासाधन गुणस्थानवर्ती जीव के पुनर्जन्म के प्रकरण में यतिवृषम नियम से उसे देवगति ही प्रदान करते हैं जब कि कुछ आचार्य उसे ऐकेन्द्रियादि जीवों की तिर्यच गति प्रदान करते हैं। उच्चारणाचार्य और यतिवृषम के

विषय के निरूपण के अन्तर्गत् को वीरसेन ने जयध्वला में नयविवक्षा के आधार पर सुलझाने का प्रयत्न किया है।^{१७} इसी प्रकार, उच्चारणाचार्य का यह मत कि बाईस प्राकृतिक विभक्ति के स्वामी चतुर्गुणिक जीव होते हैं—यतिवृषभ के केवल मनुष्य-स्वामित्व से मेल नहीं खाता। भगवती आराधना में साधुओं के २८ व ३६ मूलगुणों की चर्चा के समय कहा है, “प्राकृत टीकायां तु अष्टाविंशति गुणाः। आचारवत्त्वायश्चाष्टौ—इति षट्त्रिंशत्।” इसी ग्रन्थ में १७ मरण बताये हैं पर अन्य ग्रन्थों में इतनी संख्या नहीं बताई गई है।^{१८}

शास्त्री^{१९} ने बताया है कि ‘षट्खंडागम’ और कषायप्राभृत’ में अनेक तथ्यों में मतभेद पाया जाता है। इसका उल्लेख ‘तन्त्रान्तर’ शब्द से किया गया है। उन्होंने ध्वला, जयध्वला एवं त्रिलोकप्रज्ञप्ति के अनेक मान्यता भेदों का भी संकेत दिया है। इन मान्यता भेदों के रहते इनकी प्रामाणिकता का आधार केवल इनका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य ही माना जावेगा।

आचार-विवरण संबंधी विसंघतियाँ

शास्त्रों में सैद्धान्तिक चर्चाओं के समान आचार-विवरण में भी विसंगतियाँ पाई जाती हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

श्रावक के आठ मूलगुण—श्रावकों के मूलगुणों की वरंपरा बारह व्रतों से अर्वाचीन है। फिर भी, इसे समन्तमद्र से तो प्रारम्भ माना ही जा सकता है। इनकी आठ की संख्या में किस प्रकार समय-समय पर परिवर्धन एवं समाहरण हुआ है; यह देखिये :^{२०}

१. समन्तमद्र	तीन मकार त्याग	पंचाणु व्रत पालन
२. आशाधर	तीन मकार त्याग	पंचोदुम्बर त्याग
३. अन्य	तीन मकार त्याग	पंचोदुम्बर त्याग, रात्रि भोजन त्याग, देवपूजा, जीवदया, छना जलपान

समयानुकूल स्वैच्छिक परिवर्तनों को तेरहवीं सदी के पण्डित आशाधर तक ने मान्य किया है। यहाँ शास्त्री^{२०} समन्तमद्र की मूलगुण-गाथा को प्रक्षिप्त मानते हैं।

बाईस अभक्ष्य—सामान्य जैन श्रावक तथा साधुओं के आहार से सम्बन्धित भक्ष्याभक्ष्य विवरण में दसवीं सदी तक बाईस अभक्ष्यों का उल्लेख नहीं मिलता। मूलाचार एवं आचारांग के अनुसार, अचित्त किये गये कन्दमूल, बहुवीजक (निर्वीजित) आदि की भक्ष्यता साधुओं के लिये वर्णित है।^{२१} पर उन्हें गृहस्थों के लिये भक्ष्य नहीं माना जाता। वस्तुतः गृहस्थ ही अपनी विशिष्ट चर्चा से साधुपद की ओर बढ़ता है, इस दृष्टि से यह विरोधाभास ही कहना चाहिये। सोमदेव आदि ने भी गृहस्थों के लिये प्रासुक-अप्रासुक की सीमा नहीं रखी। संभवतः नेमिचंद्र सूरि के प्रवचन सारोद्धार^{२२} में और बाद में मान विजय गणि के धर्मसंग्रह^{२३} में दसवीं सदी और उसके बाद सर्वप्रथम बाईस अभक्ष्यों का उल्लेख मिलता है। दिगंबर ग्रन्थों में दौलतराम के समय ही ५३ क्रियाओं में अभक्ष्यों की संख्या बाईस बताई गई है। फलतः भक्ष्याभक्ष्य विचार विकसित होते-होते दसवीं सदी के बाद ही रूढ़ हो सका है।

आहार के घटक—भक्ष्य आहार के घटकों में भी अन्तर पाया जाता है। मूलाचार की गाथा ८२२ में आहार के छह घटक बताये गये हैं जबकि गाथा ८२६ में चार घटक ही बताये हैं। ऐसे ही अनेक तथ्यों के आधार पर मूलाचार का संग्रह ग्रन्थ मानने की बात कही जाती है।^{२४}

श्रावक के व्रत—कुन्दकुन्द और उमास्वाति के युग से श्रावक के बारह व्रतों की परम्परा चली आ रही है। कुन्दकुन्द ने सल्लेखना को इनमें स्थान दिया है पर उमास्वाति, समन्तमद्र और आशाधर इसे पृथक् कृत्य के रूप में मानते हैं। इससे बारह व्रतों के नामों में अन्तर पड़ गया है। इनमें पाँच अणुव्रत तो सभी में समान हैं, पर अन्य सात शीलों के नामों के अन्तर है :

(अ) गुण व्रत

कुन्दकुन्द	दिशा-विदिशा प्रमाण	अनर्थ दण्ड व्रत	भोगोपभोग परिमाण
उमास्वाति	दिग्भ्रत	अनर्थ दण्ड व्रत	देशव्रत
आशाधर, समन्तचद्र	दिग्भ्रत	अनर्थ दण्ड व्रत	भोगोपभोग परिमाण

(ब) शिक्षा व्रत

कुन्दकुन्द	सामायिक	प्रोषधोपवास	अतिथि पूज्यता	सल्लेखना
समन्तमद्र, आशाधर	सामायिक	प्रोषधोपवास	वैयावृत्य	देशावकाशिक
उमास्वाति	सामायिक	प्रोषधोपवास	अतिथि संविभाग	उपभोग परिभोग परिमाण
सोमदेव	सामायिक	प्रोषधोपवास	वैयावृत्य	भोग-परिभोग परिमाण

यहाँ कुन्दकुन्द और उमास्वाति की परम्परा स्पष्ट दृष्टव्य है। अधिकांश उत्तरवर्ती आचार्यों ने उमास्वाति का मत माना है। साथ ही, भोगोपयोग परिमाण व्रत के अनेक नाम होने से उपभोग शब्द की परिभाषा भी भ्रामक हो गई है :

	एकवार सेव्य	बारबार सेव्य
समन्तमद्र	भोग	उपभोग
पूज्यपाद	उपभोग	परिभोग
सोमदेव	भोग	परिभोग

श्रावक की प्रतिमायें—श्रावक से साधुत्व की ओर बढ़ने के लिये ग्यारह प्रतिमाओं की परम्परा कुन्दकुन्द युग से ही है। संख्या की एकरूपता के बावजूद भी अनेक के नामों और अर्थों में अन्तर है। सबसे ज्यादा मतभेद छठी प्रतिमा के नाम को लेकर है। इसके रात्रिशुक्ति त्याग (कुन्दकुन्द, समन्तमद्र) एवं दिवामंथुन त्याग (जिनसेन, आशाधर) नाम मिलते हैं। रात्रिशुक्तित्याग तो पुनरावृत्ति लगती है, यह मूल गुण है, आलोकित पान-भोजन का दूसरा रूप है। अतः परवर्ती दूसरा नाम अधिक सार्थक है। सोमदेव ने अनेक प्रतिमाओं के नये नाम दिये हैं। उन्होंने १ मूलव्रत (दर्शन), २ अर्चा (सामायिक), ४ पर्व कर्म (प्रोषध), ५ कृषिकर्म त्याग (सचित्त त्याग), ८ सचित्त त्याग (परिग्रह त्याग) के नाम दिये हैं। हेमचन्द्र ने भी इनमें पर्वकर्म, प्रासुक आहार, समारम्भ त्याग, साधु निस्सङ्गता का समाहार किया है।^{२२} सम्भवतः इन दोनों आचार्यों ने प्रतिमा, व्रत व मूल गुणों के नामों की पुनरावृत्ति दूर करने के लिये विशिष्टार्थक नामकरण किया है। यह सराहनीय है। परम्परापोषी युग की बात भी है। बीसवीं सदी में मुनि क्षीरसागर ने भी पुनरावृत्ति दोष का अनुभव कर अपनी रत्नकरश्रावकाचार की हिन्दी टीका में ३ पूजन ४ स्वाध्याय ७ प्रतिक्रमण एवं ११ शिक्षाहार नामक प्रतिमाओं का समाहार किया है।^{२३} पर इन नये नामों को मान्यता नहीं मिली है।

व्रतों के अतीचार—श्रावकों के व्रतों के अनेक अतीचारों में भी मिन्नता पाई गई है।

जाति एवं वर्ण की मान्यता—शिद्धान्तशास्त्री ने बताया है कि आचार्य जिनसेन की जैनों के ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया उसके पूर्ववर्ती आगम साहित्य से समर्थित नहीं होती। उसके शिष्य गुणमद्र एवं वसुनन्दि आदि उत्तरवर्ती आचार्य भी उसका समर्थन नहीं करते।^{१६}

भौतिक जगत के वर्णन में विसंगतियाँ : वर्तमान काल

भौतिक जगत के अन्तर्गत जीवादि छह द्रव्यों का वर्णन समाहित है। उमास्वाति ने “उपयोगो लक्षणं” कहकर जीव को परिभाषित किया है। पर शास्त्रों के अनुसार, उपयोग की परिभाषा में ज्ञान, दर्शन के साथ-साथ सुख और बोध का भी उत्तरकाल में समावेश किया गया। अनेक ग्रन्थों में उपयोग और चेतना शब्दों की पृथक्-पृथक् भी बताया गया है। इसका समाधान क्षमता एवं क्रियात्मक रूप से किया जाता है।^{१७} इसी प्रकार, जीवोत्पत्ति के विषय में भी विकलेन्द्रिय जीवों तक की सम्पूर्णनता विचारणीय है जब कि भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वपर ने कल्पसूत्र में मक्खी, मकड़ी, पिपीलिका, खटमल आदि को अण्डज बताया है। निश्चय-व्यवहार की चर्चा से यह प्रयोग-सापेक्ष प्रश्न समाधेय नहीं दिखता।^{१८}

अजीव को पुद्गल शब्द से अमिलक्षणीत करने की सूक्ष्मता के बावजूद भी उसके भेद-प्रभेदों का चक्षु की स्थूलग्राह्यता तथा अन्य इन्द्रियों की सूक्ष्म ग्राहिता के आधार पर वर्णन आज की दृष्टि से कुछ असंगत-सा लगता है। पदार्थ के अणु-स्कन्ध रूपों की या वर्गणाओं की चर्चा कुंदकुंद युग से पूर्व की है। पर कुंदकुंद ने सर्वप्रथम चक्षु-दृश्यता के आधार पर स्कंधों के छह भेद किये हैं। उन्होंने आकार की स्थूलता को दृश्य माना और चक्षुषा-अदृश्य पदार्थों को सूक्ष्म माना। इस प्रकार ऊष्मा, प्रकाश आदि ऊर्जायें तृतीय कोटि (स्थूल-सूक्ष्म) और वायु आदि गैस, गन्ध व रसवान् पदार्थ (सूक्ष्म-स्थूल) चतुर्थ कोटि (सूक्ष्मतर) में आ गये। दुर्मांय से ध्वनि ऊर्जा कर्ण-गोचर होने से प्रकाश-आदि से सूक्ष्मतर हो गई।

धवला-वर्णित वर्गणा-क्रम वर्धमान स्थूलता पर आधारित लगता है पर उसका क्रम अणु-आहार-तैजस-भाषा-मन-कामंज शरीर-प्रत्येक शरीर-बादर निगोद-सूक्ष्म निगोद-वर्गणाओं का क्रम विसंगत लगता है। तैजस शरीर से कामंज शरीर सूक्ष्मतर बताया गया है, तैजस (ऊर्जायें) एवं ध्वनि आहार-अणुओं से सूक्ष्मतर होती हैं, सूक्ष्म निगोद बादर निगोद से सूक्ष्मतर होना चाहिये तथा मन, यदि द्रव्यमन (मस्तिष्क) है, तो वह प्रत्येक शरीर से भी स्थूलतर होता है।

जैनो का परमाणुओं के बन्ध संबंधी नियमों का विद्युत् गुणों के आधार पर विवरण अभूतपूर्व है। पर यह विवरण अक्रिय गैसों के योगिकों के निर्माण, उपसह-संयोजी योगिकों तथा संकुल लवणों के संभवन से संशोधनीय हो गया है। शास्त्री^{१९} ने इन नियमों की शास्त्रीय व्याख्या में भी टीकाकार-कृत अन्तर बताया है। जैन, मुनि विजय आदि अनेक विद्वान् विभिन्न व्याख्याओं से इन शास्त्रीय मान्यताओं को ही सत्य प्रमाणित करने का यत्न करते हैं। परन्तु उन्हें तैजस वर्गणा और नमो वर्गणा के आकारों की स्थूलता के अन्तर को मानसिक नहीं बनाना चाहिये। उन्हें गर्भज (सर्लिगी) प्रजनन को अलिगी-सम्पूर्ण प्रजनन के समकक्ष भी नहीं मानना चाहिये।

उपसंहार

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि षट्खंडागम, कषायपाहुड, कुंदकुंद, उमास्वाति तथा उत्तरवर्ती चूर्णि-टीकाकारों के ग्रन्थों के सामान्य अन्तः परीक्षण के कुछ उपरोक्त उदाहरणों से निम्न तथ्य भली भाँति स्पष्ट होते हैं :

- (i) इन ग्रन्थों का निर्माण ईसापूर्व प्रथम सदी से तेरहवीं सदी के बीच हुआ है। इनके लेखक न सर्वज्ञ थे, न गणधर ही, वे आरातीय थे।
- (ii) इन ग्रन्थों के आगम-तुल्य अतएव प्रामाणिक माने जाने के जो दो शास्त्रीय आधार हैं, वे इन पर पूर्णतया लागू नहीं होते।
- (iii) आचार्य कुंदकुंद का अध्यात्मवादी साहित्य अमृतचन्द्र एवं जयसेन (१०-१२ वीं सदी) के पूर्व प्रभावशाली नहीं बन सका। फिर भी, इसकी ऐतिहासिक महत्ता मानी गई। इसी से उन्हें स्वाध्याय के मंगल में गौतम गणधर के बाद स्थान मिला। यह मंगल श्लोक कब प्रचलन में आया, इसका उल्लेख नहीं मिलता, पर इसमें मद्रबाहु जैसे अंग-पूर्व धारियों तक को अनदेखा किया गया है, यह अचरजकारी बात अवश्य है। पर इससे भी अचरज की बात यह है कि अधिकांश उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनके बदले उमास्वाति की मान्यताओं को उपयोगी माना। यही कारण है कि जब सोलहवीं सदी में पुनः बनारसीदास ने इसे प्रतिष्ठा दी, तब पंथभेद हुआ। अब बीसवीं सदी में भी ऐसी ही संभावना दिखती है।
- (iv) इन ग्रन्थों में वर्णित अनेक विचार और मान्यताएँ उत्तरकाल में विकसित, संशोधित और परिवर्धित हुई हैं।
- (v) इनमें वर्णित अनेक आचार-परक विवरणों का भी उत्तरोत्तर विकास और संशोधन हुआ है।
- (vi) अनेक ग्रन्थों में स्वयं एवं परस्पर विसंगत वर्णन पाये जाते हैं। इनके समाधान की “द्वावपि उपदेशो ग्राह्यौ” की पद्धति तर्कसंगत नहीं है।
- (vii) इनके भौतिक जगत संबंधी अनेक विवरणों में वर्तमान की दृष्टि से प्रयोग-प्रमाण-बाधकता प्रतीत होती है।
- (viii) आशाधर के उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं को अपनी रुचि के अनुसार अपने ग्रन्थों में स्वीकृत किया है। पापभीरता, प्रतिभा की कमी तथा राजनीतिक अस्थिरता ने इन्हें स्थिर और रूढ़ मान लिया गया।
- (ix) प्राचीन आचार्यों ने एवं टीकाकारों ने अपने अपने समय में आचार एवं विचार पक्षों की अनेक पूर्व मान्यताओं का संरक्षण, पोषण व विकास किया है। अतः सभी शास्त्रीय मान्यताओं की अपरिवर्तनीयता की धारणा ठोस तथ्यों पर आधारित नहीं है।
- (x) इस अपरिवर्तनीयता की धारणा के आधार पर प्रयोगसिद्ध वैज्ञानिक तथ्यों की उपेक्षा या काट की प्रवृत्ति हमारे ज्ञान प्रवाह की गरिमा के अनुरूप नहीं है।

अतः हमें अपने शास्त्रीय वर्णनों, विचारों की परीक्षा कर उनकी प्रामाणिकता का अंकन करना चाहिये जैसा वैज्ञानिक करते हैं। इस परीक्षण विधि का सूचपात आचार्य समंतभद्र, अकलंक आदि ने सदियों पूर्व किया था। वर्तमान बुद्धिवादी युग परीक्षण जन्य समीचीनता के आधार पर ही आस्थावान् बन सकेगा। आचार्य कुंदकुंद भी यह निर्दिष्ट करते हैं।

संदर्भ

१. मालवणिया, दलसुख; पं० कं० चं० शास्त्री अभि० ग्रन्थ, १९८०, पेज १३८
२. मुनि नंदिघोष; तीर्थंकर, १७, ३-४, १९८७, पेज ६३
३. ज्योतिषाचार्य नेमिचन्द्र; तीर्थंकर सहवीर और उनकी आचार्य परंपरा-३, विद्वत् परिषद्, दिल्ली, १९७४, पे० २९६
४. आर्थिका ज्ञानमनी जी; मूलाचार का आद्य उपोद्घात—१, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८४, पेज १८

५. ज्योतिषाचार्य, नेमिचन्द्र; महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—२, पूर्वोक्त, १९७४, पेज २५ ।
६. उपाध्याय, अमर मुनि; पण्णा समिक्खए धम्मं—२, वीरायत्तन, राजगिर, १९८७ ।
७. देखिये निर्देश ५ पेज ८, पेज १९ ।
८. आचार्य बटुकेर; मूलाचार—१, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८४, पेज १३२ ।
९. देखिये निर्देश ५ पेज २८-१६९ ।
१०. संन्यासी राम; 'श्रमण' पार्श्वनाथ विद्याश्रम, काशी, ३८, ६, १९८७ पेज २७; ३८, ६, १९८७, पेज २७ ।
११. नीरज जैन; 'जैन गजट' (साप्ताहिक), ९२, ४१-४२, १९८७, पेज १० ।
१२. देखिये निर्देश ५ पेज ७७ ।
१३. न्यायाचार्य, महेन्द्रकुमार; जैन दर्शन, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १९६६, पेज २६८ ।
१४. द्विवेदी, आर० सी०; कन्ट्रोवर्शियल ऑन जैनिज्म दू इण्डियन कल्चर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७५, पेज १५६ ।
१५. देखिये निर्देश ४ पेज १७ ।
१६. देखिये निर्देश ५ पेज ३२७-२८, ८४-८५, ८७ ।
१७. आचार्य पुण्यदन्त; सत्परूपणा सूत्र, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १९७१, पेज ११५ ।
१८. शिवार्य, आचार्य; भगवती आराधना—१, जीवराज ग्रन्थमाथा, शोलापुर, १९७८, पेज १२६ ।
१९. आशाधर, पंडित; सागर धर्माश्रित, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७८, पेज ४३, ६३ ।
२०. देखिये निर्देश ५ पेज १९३ ।
२१. आचार्य बटुकेर; मूलाचार—२, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८६, पेज ६६-६८ ।
२२. देखिये निर्देश १९ पेज ३३ ।
२३. मुनि क्षीरसागर; रत्नकरंड-भावकाचार, हिन्दी टीका, एस० एल० ट्रस्ट, विदिशा, १९५१ ।
२४. जैन, एस० सी०; द स्ट्रक्चर एण्ड फंक्शन ऑन सोल इन जैनिज्म, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७४ ।
२५. सिद्धान्तशास्त्री, फूलचन्द्र (टीकाकार); तत्त्वार्थसूत्र, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १९४९, पेज २६२ ।
२६. सिद्धान्तशास्त्री, फूलचन्द्र; वर्ण, जाति और धर्म, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६३, पेज १७८ ।
२७. नेमिचंद्र सूरि; प्रवचन सारोद्धार, जैन पुस्तकालय संस्था, बंबई, १९२२, पेज ५८ ।
२८. मानविजय गणि; धर्मसंग्रह, अमृतलाल जयसिंह भाई, अहमदाबाद, १९५५, पेज १९९ ।